

## समकालीन लोक कलाओं में झाँकता : प्रागैतिहासिक कला संसार (छत्तीसगढ़ की लोक कलाओं के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ० नीलिमा गुप्ता

अध्यक्षा एवं एसो प्रोफे०, आई०एन०पी०जी० कॉलेज मेरठ

शोधपत्र का संक्षिप्त विवरण  
इस प्रकार है:

**डॉ० नीलिमा गुप्ता,**  
“समकालीन लोक कलाओं में  
झाँकता : प्रागैतिहासिक  
कला संसार (छत्तीसगढ़ की लोक  
कलाओं के विशेष सन्दर्भ में)”,  
Artistic Narration 2017, Vol.  
VIII, No.1, pp. 61- 69  
[http://anubooks.com/  
?page\\_id=2325](http://anubooks.com/?page_id=2325)

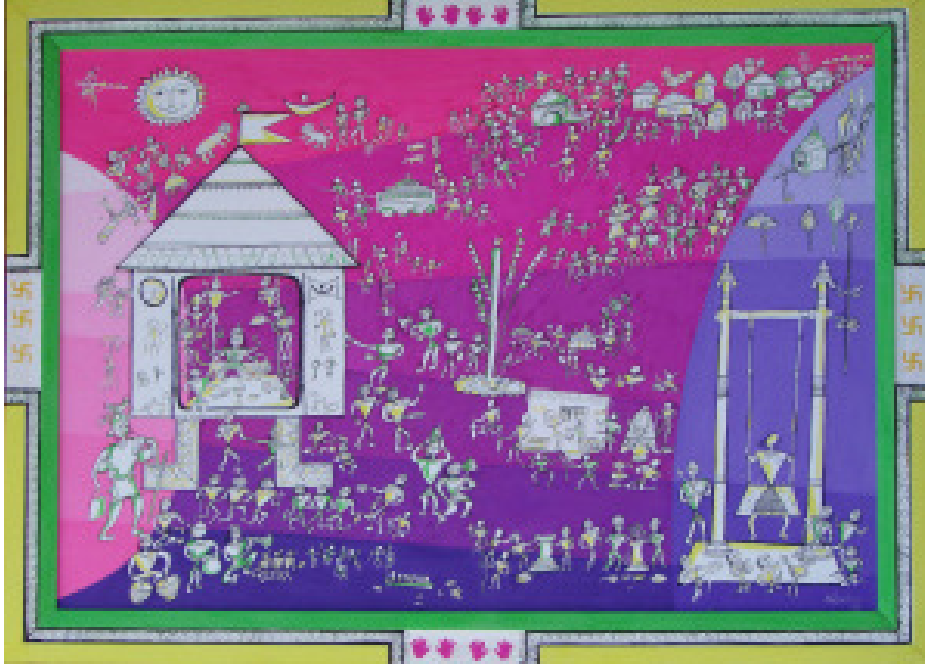
### सारांश

प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य ने अपनी मूक भावनाओं को पत्थरों पर टेढ़ी-मेढ़ी रेखाकृतियों के द्वारा अभिव्यक्त किया। छत्तीसगढ़ के प्रागैतिहासिक काल का उद्घाटन इस क्षेत्र की विस्तृत अरण्य पर्वत शृंखलाओं, गुफाओं तथा कन्दराओं में प्राप्त पुरातत्व सामग्री से होता है। मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ कृषक समाज द्वारा निर्मित लोक कलाओं ने भी आदि सभ्यता के लोक देवी-देवताओं को आत्मसात् किया। आदिवासियों द्वारा अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ पकी हुयी मिट्टी में बनायी जाती हैं। छत्तीसगढ़ में पशु मृण्यमूर्तियों में बनायी जाने वाली सिंह, हाथी, घोड़े, नन्दी, हिरण, बन्दर आदि की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। मुरिया जनजाति में किसी प्रतिष्ठित अथवा अपने प्रिय व्यक्ति की स्मृति में पाषाण या काष्ठ से निर्मित कलात्मक स्तंभ बनाये जाते हैं। ज्यामितीय डिजाईन, बेल-बूटों तथा फूल पत्तों से सुसज्जित गायत्री खम्भ पर कहीं-कहीं पूर्वज की आकृतियाँ भी प्रतीकात्मक रूप से उकेरी जाती हैं। आज भी अपनी अनुष्ठान परम्परा, प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि तथा समकालीनता को अनेक लोक कलाकार अपने लोक कला रूपों में पुनसृजित कर रहे हैं।

समकालीन लोक कलाओं में झाँकता : प्रागैतिकहासिक कला संसार (छत्तीसगढ़ की लोक कलाओं के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ० नीलिमा गुप्ता

### प्रस्तावना



प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य ने अपनी मूक भावनाओं को पत्थरों पर टेढ़ी-मेढ़ी रेखाकृतियों के द्वारा अभिव्यक्त किया। छत्तीसगढ़ के प्रागैतिहासिक काल का उद्घाटन इस क्षेत्र की विस्तृत अरण्य पर्वत शृंखलाओं, गुफाओं तथा कन्दराओं में प्राप्त पुरातत्व सामग्री से होता है। इस काल का आरम्भ मानव सभ्यता के विकास से पूर्व ही हो चुका था। इस समय मानव पत्थरों को तोड़कर उन्हें नुकीला बनाकर हथियार के रूप में प्रयुक्त करना सीख गया था। इस काल में मानव द्वारा पत्थरों के प्रयोग के कारण इसे इतिहासकारों ने 'पाषाण-युग' के नाम से सम्बोधित किया।<sup>1</sup>

पूर्व पाषाण युग के औजार महानदी घाटी<sup>2</sup>, सिंघनपुर<sup>3</sup> एवं सरगुजा जिले के शौलाश्रयों से प्राप्त हुये हैं। मध्य पाषाण युगीन औजार रायगढ़, कबरा पहाड़ के चित्रित शौलाश्रयों के निकट से प्राप्त हुये हैं।<sup>4</sup> उत्तर पाषाण युग के लघुकृत पाषाण औजार महानदी घाटी<sup>5</sup> बिलासपुर जिले में घनपुर<sup>6</sup> तथा रायगढ़ जिले में सिंघनपुर में चित्रित शैल चित्रों व गुफा चित्रों के निकट प्राप्त हुये हैं।

महापाषाणकालीन युग में मानव द्वारा अपने प्रियजनों की मृत्यु होने पर उनके शव गाड़ने हेतु विशाल शिलाखण्डों का प्रयोग करते थे, जिन्हें महापाषाणकालीन स्मारक कहा जाता था। दुर्ग जिले में करहीभदर<sup>7</sup>, कबराहट<sup>8</sup>, सोरर, घनोरा, मुजगहन<sup>9</sup> आदि स्थानों से अनेक प्रकार के पाषाणकालीन स्मारक प्राप्त हुये हैं।

प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य जब पर्वत की कन्दराओं में निवास करता था, तब उसने कंदराओं में अनेक चित्र बनाये थे, जो उसके कलाप्रिय होने के प्रमाण हैं। इस प्रकार के चित्र रायगढ़ जिले के सिंघनपुर, पहाड़, ओगना, बसनाझर, करमागढ़, लेखापाड़ा, राजनॉदगॉव जिले के चितवा डोंगरी के शैल चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त बस्तर जिले के मुपनसार, अम्बिकापुर में रामगढ़ पहाड़ी के पास जोगीमूढ़ा एवं सीता बोंगरा नामक स्थान में विश्व प्रसिद्ध अति प्राच्य नाट्यशाला उल्लेखनीय हैं।<sup>10</sup> इन स्थानों में लाल रंग की छिपकली, घड़ियाल, सांभर, वन्य पशु-पक्षी, मानव-आकृति, पंक्तिबद्ध मानव समूहों का चित्रण, आखेट दृश्य, नृत्य-संगीत आदि आमोद-प्रमोद के दृश्यांकन अलग-अलग शैली में चित्रांकित मिलते हैं।<sup>11</sup>

प्रागैतिहासिक मानव के लिये गुफाओं की दीवारें तथा चट्टानें ही एकमात्र उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम थीं। कला की दृष्टि से भित्ति चित्रांकन लोक कलाओं का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। 'ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विद्वानों का मत है कि कला का मानव से संबंध आदि काल से है। आदि मानव ने जब वर्षा आदि से संरक्षण पाने के लिये गुफाओं में रहना प्रारम्भ किया होगा, तब उसके मन में रोटी और कामभाव (सेक्स) की जगह में एक नयी भावना जागी होगी और उसने पास पड़ी खड़िया मिट्टी से सामने के पर्वत शिलाओं पर कुछ आड़ी-टेड़ी आकृतियाँ खींची होंगी। अपने एकान्त के क्षणों में उसके द्वारा खींची गयी वे आकृतियाँ एक कला का रूप धारण कर सामने आईं,, जो 'आदिम कला' के नाम से प्रसिद्ध हुईं।<sup>12</sup> इस समय की कला 'प्रागैतिहासिक कला' नाम से पुकारी गयी। क्योंकि उस समय तक समाज संगठित नहीं हुआ था। अतः इस कला को 'लोक कला' की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। धीरे-धीरे मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ उसकी कला भी विकसित हुयी और शैल खण्डों का स्थान भित्ति ने ले लिया।

कला वास्तव में मानव मन की, मानवता की, सहजात प्रवृत्ति है और जो इसलिए सीमित नहीं है, जो इसीलिये सनातन है और सामाजिक भी, समष्टि और व्यष्टि भी, सार्वभौम और सर्वकालिक भी। वह मानव के स्व-भाव में है। जन्मजात प्रवृत्ति और उसकी पहचान है, इसीलिये कला को लोक की सम्पदा माना जा सकता है अर्थात् कला सबके लिये है किसी की बपौती नहीं।<sup>13</sup> लोक कला में आन्तरिक अनुभूतियों को उपलब्ध माध्यमों द्वारा मूर्त रूप प्राप्त होता है। लोक कला सामान्य जनों की कला है। लोक कला में लोक मानव, लोक जीवन, लोक व्यवहार व्याप्त रहता है तथा लोक की अभिव्यक्ति के आकार परम्परा से बंधे होते हैं। ये इतने सहज रूप से उपलब्ध होते हैं, उन्हें रूपायन्ति करने से पूर्व प्रस्तुतकर्ता को विवेचन का सहारा लेकर रूप निर्धारण की अपेक्षा नहीं रहती।<sup>14</sup> इसीलिये लोक कलायें मन की सहजातवस्था में आदिम आनन्द की अजरत्र धारा हैं। लोक कला सृजन क्रम इस सत्य की भी पुष्टि करता है कि मानव विकास की यात्रा में वह कहाँ से चला और किस प्रकार चला? लोक कला में उस युग और जीवन के संघर्ष, संकल्प, सरोकार को अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। इसके संवर्धन में बुद्धि एवं कल्पनाशीलता का भी योग रहता है।

प्रो० सी० एल० झा इस संदर्भ में कहते हैं कि ग्रामीण अशिक्षित समाज प्रागैतिहासिक काल में जिन सांकेतिक चिह्नों का भाषा-लिपि-लेखन के स्थान पर वाणिज्य की सुविधा में प्रयोग करता था और जो उसके निवास करने की गुफाओं को पहचानने में उसकी मदद करते थे, वे सब, लोक कला की

अति प्राचीन और अविकसित दशा के ही प्रतीक हैं।

आदिम मानव ने अपने खाली क्षणों को भरने और दैवी आपदाओं के आतंक से विचलित होकर समतल जमीन और अनगढ़ पत्थरों पर कुछ आड़ी-तिरछी रेखायें खींची होगी जहाँ से लोक चित्रकला की शुरुआत होती है। इसीलिये सी० एल० झा कहते हैं कि 'लोक कला मानवीय भावनाओं के साथ-साथ चली आ रही है, जो अति प्राचीन है।' डॉ० गिरीराज किशोर अग्रवाल लोक कलाओं की उत्पत्ति आदिम काल से मानते हुये कहते हैं कि 'अपनी आदिम अवस्था में जिस समय मानव खेती करने लगा। उसकी कलाओं में स्थिरता आयी। उसी समय उसमें 'लोक भावना' का जन्म हुआ। बहुत समय तक आदिम कला और लोक कला साथ-साथ चलती रही।'<sup>15</sup>

मानव सभ्यता के प्रारम्भिक काल में निर्मित मिट्टी के बर्तन, आभूषण और औजार आदि पर उभरे चित्र मनुष्य की उस समय की कलात्मक रुचि को प्रकट करते हैं। डॉ० आनन्द कुमार स्वामी ने चमड़े पर अंकित चित्र का संदर्भ ऋग्वेद में खोजा। लोक चित्रकला के प्राचीन अवशेष सरगुजा (छत्तीसगढ़) की जोगीमारा गुफा में उत्कीर्ण हैं। प्रागैतिहासिक काल के शैल चित्रों के लिये प्रसिद्ध रायगढ़ जिले (छत्तीसगढ़) के सिंघपपुर, कबरा, ओगना, कुरी गुफा में प्रागैतिहासिक चित्रों की प्राप्ति हुयी है। जो आदिमानव द्वारा निर्मित कला के सुन्दर अवशेष हैं। जो शची रानी गुट का कथन प्रमाणित करते हैं कि "लोक कला युग-युग का इतिहास संजोए मानवीय भावनाओं के साथ-साथ चल रही है।"

स्टीवेंस के अनुसार आदिमानव के साथ लोक कला का घनिष्ठ संबंध है। प्राचीन गुफाओं में प्राप्त स्वास्तिक चिह्न लोक कलाओं में परम्परागत रूप से आज भी बनाये जाते हैं। जैसे-जैसे मानव सभ्यता का विकास होता गया, लोक कलायें भी विकसित होती गयीं। डॉ० नर्मदा प्रसाद गुप्त के अनुसार लोकमानस को "मात्र प्राकृत आदिम रूढ़मूल मानस" मानना गलत है। "सहज और प्राकृत का अर्थ आदिम न होकर आज तक विद्यमान उस सार्वकालिक रूप से है, जो भिन्न-भिन्न युगों की चेतना को आत्मसात् करता हुआ भी कृत्रिम प्रभावों से अछूता रहता है।"<sup>16</sup>

आदिम अवस्था से वर्तमान अवस्था तक कला का इतिहास धर्म के इतिहास के साथ चला है। यह माना जाता है कि आदिम मानव के साथ धर्म का जो रूप स्थापित हुआ वह मानव की कलाकृतियों में पृष्ठभूमि के रूप में जुड़ा रहा। धर्म मनुष्य का आदिम एवं प्राथमिक अनुभव था। धर्म ने प्रागैतिहासिक तथा समकालीन लोक कलाओं को उन्नत स्वरूप प्रदान किया। लोक धर्म अनेक उपासनाओं के माध्यम से हमें अलौकिक आनन्द की अनुभूति प्रदान करता है। लोक कलायें धर्म की कठोरता को माधुर्य, सौकुमार्य तथा रोचकता प्रदान कर सर्वग्राह्य रूप देती हैं। यही कारण है कि आदिम युगों से लेकर आज तक लोक कला धर्म की सहचरी रही है। जो विभिन्न विधाओं मन्दिर, मूर्ति, चित्र, संगीत, स्थापत्य, शृंगार में अभिव्यक्त होती रही है। साथ ही लोक कलाओं के अंधविश्वासों से भी प्रभावित होने के कारण लोक मानव द्वारा प्रत्येक अवसर पर उनका उपयोग अनिवार्य माना गया। कहना अतिशयोक्ति न होगा कि लोक कलाओं में हमारी प्राचीन मान्यताओं तथा धार्मिक आदर्शों की छवि बसी हुयी है।

मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ कृषक समाज द्वारा निर्मित लोक कलाओं ने भी आदि सभ्यता के लोक देवी-देवताओं को आत्मसात् किया। हरबर्ट रीड के अनुसार "अतीत में दृष्टिपात करने

पर ज्ञात होता है कि कला एवं धर्म प्रागैतिहासिक (इतिहास पूर्व) घुंघलके में एक साथ हाथ में हाथ डाले प्रकट हुये।<sup>17</sup> आदिम युग के कला अवशेषों की झलक उपासना संबंधी लोक कलाओं में आज भी दृष्टिगत होती है।

सभ्यात के विकास के साथ-साथ मनुष्य ने कुम्हार के चाक का विकास किया और मिट्टी के बर्तन तथा मिट्टी की मूर्तियाँ बनाना आरम्भ किया। ईसवी पूर्व चार से लेकर दो शताब्दियों के उत्तर में निर्मित काली पालिश वाले बर्तन आदि नवपाषिणी संस्कृति से सम्बद्ध माने जाते हैं। मिट्टी के पके हुये बर्तन और मूर्तियाँ न सिर्फ समाज की विकासधारा की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं, वरन् ये आज भी लोक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

मिट्टी में आकार ग्रहण करने की अद्भुत क्षमता को मनुष्य ने अपनी आरम्भिक अवस्था में ही पहचान लिया था। वास्तव में पात्र निर्माण की यह परम्परा अत्यंत प्राचीन है। प्रागैतिहासिक काल में भी मिट्टी के पात्रों का उपयोग किया जाता था। मिर्जापुर की भल्दरिया व विजयगढ़ की गुफाओं में मिट्टी के पात्रों के अवशेष भी पाये गये हैं।<sup>18</sup> कुम्हारों के मुहल्ले से आँवों का मिलना इस तथ्य का प्रमाण है कि बर्तन बनाने की तकनीक आजकल के समान ही थी।<sup>19</sup> मध्दमाण्ड में अनेक प्रकार के प्याले, नौदें, कटोरे, ढक्कन, हैंडिलदार बर्तन, घड़े, खाना पकाने आदि के पात्र मुख्य रूप से होते थे।<sup>20</sup> पात्रों के अलंकरण की जो परम्परा सिंधु सभ्यता से आरम्भ हुई थी, वह परवर्ती काल में भी चलती रही। शुंग, कुषाण तथा गुप्त काल में चमकदार रंगों से पात्रों पर अनगिनत सुंदर अलंकरण करने की समृद्ध परम्परा दृष्टिगोचर होती है।<sup>21</sup>

छत्तीसगढ़ अंचल के बिलासपुर के मल्हार नगर से प्राप्त पुरावात्विक वस्तुओं में ईसा पूर्व एक सौ वर्ष से दसवीं शताब्दी तक के कलात्मक शिल्प प्राप्त हुये हैं। श्रीपुर के उत्खनन से प्राप्त अन्य मृण्यमूर्तियों तथा छत्तीसगढ़ के अनेक पुरातात्विक स्थानों से प्राप्त अन्य मृण्यमूर्तियाँ स्पष्ट करती हैं कि यहाँ प्रागैतिहासिक काल से ही मिट्टी में पात्र निर्माण की प्राचीन परम्परा प्रचलित थी।

वर्तमान समय में भी मिट्टी से आवश्यक बर्तनों को गढ़कर एक ओर कुम्हार अपने परिवार का भरण-पोषण कर रहे हैं वहीं दूसरी ओर अपनी प्रागैतिहासिक परम्परा को जीवित रख उसमें कलात्मक सृजन कर रहे हैं। बस्तर, दन्तेवाड़ा, रायगढ़, नगरनार आदि अनेक स्थानों के कुम्हारों द्वारा उत्कृष्ट कार्य किया जा रहा है। बरतन सूखने के पश्चात् मिट्टी की पालिश हेतु विशेष प्रकार की 'पांजन मिट्टी' का घोल हंडी में तैयार किया जाता है। छत्तीसगढ़ में चाकिया, चूल्हा टोकसी, तोपना तथा करुआ आदि उपयोगी पारम्परिक पात्रों के निर्माण के अतिरिक्त आनुष्ठानिक कार्य में उपयोग की जाने वाली गगरी अथवा कलशों पर चित्रकारी तथा उकेरण कला की जाती है। इसके लिये अधिकतर गीली मिट्टी पर कुरदे कर ही विभिन्न फूल, पत्ते, बेलें तथा अन्य ज्यामितीय आकृतियाँ निर्मित की जाती हैं। जनजातियों में कछुआ या कच्छप गोत्र चिह्न होता है अतः उस आकृति के बर्तन निर्माण का कार्य भी प्रचलित है।

उपयोगी मिट्टी के बर्तनों के निर्माण के अतिरिक्त छत्तीसगढ़ में मूर्तियाँ बनाने की प्रक्रिया भी अत्यन्त प्राचीन है। वर्तमान समय में छत्तीसगढ़ अंचल में निर्मित मृण्यमूर्तियाँ बनाने की सुदीर्घ परम्परा यहाँ की संस्कृति का एक अभिन्न अंग हैं। बैल और बैन्द्री बनाने की तकनीक को देखने पर ज्ञात होता है कि

प्राचीन मानव ने भी बैन्द्री और बैल को हाथ से घड़ा होगा। इसीलिये उस सभ्यता की बड़ी से बड़ी मिट्टी की मूर्तियाँ ठोस एवं वजनदार प्राप्त हुयीं। आज भी यहाँ मूर्तियों का निर्माण प्राचीन अथवा मध्यकालीन शैली में ही किया जाता है। जिनमें आदिम संस्कृति के अवशेषों के साथ कृषि व्यवस्था के अनेक प्रतीक सांस्कृतिक जीवन से संबंधित कलात्मक रूप में बनाये जाते हैं।

आदिवासियों द्वारा अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ पकी हुयी मिट्टी में बनायी जाती हैं। छत्तीसगढ़ में पशु मृण्यमूर्तियों में बनायी जाने वाली सिंह, हाथी, घोड़े, नन्दी, हिरण, बन्दर आदि की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। छत्तीसगढ़ के ग्रामीण पूजास्थलों को मैदानी भाग में देवालय तथा बस्तर क्षेत्र में माता-गुड़ी कहा जाता है। ये लोग अपनी कोई इच्छा; (मन्त) पूर्ण होने पर मृण्यमूर्तियों को भेंट स्वरूप देवी-देवताओं पर अर्पित करते हैं। मृण्य मूर्तियों को भेंट करने के पीछे ग्रामीण जन की पशुओं की पराशक्ति को वश में करने की भावना निहित होती है। पशुओं की अलौकिक शक्ति के भयाक्रान्त होकर ही वे उसके शमन हेतु देवी-देवताओं की अराधना करते हैं। राजनांद गाँव में निर्मित मिट्टी शिल्प काले रंग, मौलिक आकार-प्रकार तथा विशेष अलंकरण युक्त होते हैं। देव गुड़ियाँ यहाँ के मिट्टी शिल्प के कलात्मक संग्रहालय हैं, जिनमें विभिन्न शिल्पकारों के हाथों से बनाये गये वैविध्यपूर्ण शिल्पों की प्रदर्शनी सहज रूप से लगी रहती है। इन मूर्तियों को अलाव में ही इस प्रकार ढका जाता है कि वे काले चमकदार रंग के हो जाते हैं।

समकालीन शिल्पी प्राचीन परम्पराओं के निर्वाह के साथ-साथ समय की मांग को ध्यान में रखते हुये कुम्हार, शेर, हाथी, बैल आदि के मुँह वाले गमलों का निर्माण कर विभिन्न नवीन प्रयोगों की ओर भी अग्रसर हैं। ऐड़का, नगरनार, कोडागांव आदि क्षेत्रों के मृण्यमय शिल्पियों द्वारा टेराकोटा मानव आकृतियाँ धातु शिल्प से प्रेरित होकर बनायी जाने लगी हैं। छत्तीसगढ़ सरगुजा में इन आकृतियों का अलंकरण मिट्टी की गोलियाँ तथा पट्टियाँ बनाकर किया जाता है। इसी से वे इन मूर्तियों की मालायें तथा शृंगार के अन्य आभूषणों का निर्माण करते हैं। गेरू, पीली मिट्टी, नीला थोता, खड़िया मिट्टी आदि का भी अलंकरण हेतु प्रयोग किया जाता है। रंगों में धातु के समान चमक उत्पन्न करने के लिये सभी रंगों में अभ्रक के चूर्ण का मिश्रण किया जाता है।

बस्तर में वर्तमान में निर्मित गाय, बैल, नन्दी, हाथी, घोड़े की आकृति में अपेक्षाकृत टाँगे लम्बी बनायी जाती हैं। सिंधु घाटी सभ्यता से प्राप्त मिट्टी के खिलौने बैन्द्री एवं बैल की आकृतियों से वर्तमान में बस्तर में निर्मित बैन्द्री एवं बैल की आकृतियाँ अत्यधिक साम्य रखती हैं। कुम्हारों द्वारा चाक पर सुघड़ तरीके से खपरैल का निर्माण घर की छत बनाने हेतु किया जाता है। कभी-कभी इन पर चिड़िया, कलष, हाथी, बत्तक, बाघ, बैल, कुत्ता, सूअर, गिलहरी, नाग, मोर आदि पशु-पक्षी अभिप्राय जंगल के प्रतीक रूप निर्मित किये जाते हैं।

दीपावली पर्व पर छत्तीस गढ़ के कुम्हारों द्वारा विभिन्न प्रकार के कलात्मक गज लक्ष्मी, दीपक, दीपक, स्तंभ दीपक, मेम दीपक तथा रूखा दीया निर्मित किये जाते हैं। रायगढ़ सरगुजा अंचलों के मृण्यशिल्पों की परम्परा में रूखा दीया सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्वपूर्ण शिल्प है। इसका ऊपरी हिस्सा स्त्री के सिर, घड़ व उठे हुये हाथ सिर की ओर बनाये जाते हैं, जिसमें दीपक या घड़ा लगा दिया जाता

है। आनुष्ठानिक कर्म का हिस्सा होने के कारण इनकी जबरदस्त परम्परा प्रचलित है। इसके अतिरिक्त चिड़िया दीया वैज्ञानिक सूझ-बूझ साईफन सिस्टम में बना होता है। जिसमें मिट्टी के छः-सात इंच ऊँचे बेलनाकार स्टैण्ड पर चोंच व पोली पेट वाली चिड़िया होती है।

मिट्टी के खिलौने का इतिहास उतना ही पुराना है। जितना की कुम्हार कला खिलौने तथा बर्तन का प्रत्येक टुकड़ा एक कला और एक युग के इतिहास का द्योतक होता है और कालान्तर में ये टूटे-फूटे मिट्टी के खिलौने और बर्तन अपने समय का इतिहास प्रतिबिम्ब करते हैं। मिट्टी के खिलौने के सर्वप्रथम उदाहरण हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों के अवशेषों से प्राप्त होते हैं। मिट्टी के खिलौने भी अन्य कलाओं के समान समय से प्रभावित रहे हैं। छत्तीसगढ़ में काली मिट्टी से भोजन पकाने तथा परोसने संबंधी खिलौनों का निर्माण किया जाता है। सरगुजा में 'लकड़बाबा' सारंगगढ़ में 'दूलपुतरी', रायगढ़ में उलूक व बंदर, कछुआ, बिच्छू व सर्प तथा मनुष्याकृतियों में उरांव-उरांवी (आदमी औरत) तथा माता-शिशु बनाये जाते हैं।

छत्तीसगढ़ के आदिवासियों में नृत्य-नाट्य उत्सव आदि अवसरों पर मुखौटे धारण करने की परम्परा रही है। प्रागैतिहासिक काल के गुहा-चित्रों के मुखौटों के अंकन इस बात के प्रमाण हैं कि आदिम मानव मुखौटों को प्रयोग करना जानता था।<sup>24</sup> आदिम मानव जब विकास के पथ पर था तभी से उसने मुखौटों का रहस्य समझ लिया था, इसलिये उसने अपने अनुष्ठान और कला में मुखौटों को स्थान दिया।<sup>25</sup> छत्तीसगढ़ के कलात्मक अभिनय के मुखौटों में गोंड तथा परधान जाति के कठभेगा, बैगा के खेखड़ा, भील के राय बुड़ला, पण्डो कँवर का कठमुहा खिसरा एवं भतरा आदिवासियों के भतरा नाट्य में प्रयोग किया जाने वाले आदिम अभिप्राय व अनूठे आकार वाले मुखौटे अत्यधिक लोकप्रिय हैं। छत्तीसगढ़ के जनजातीय मुखौटे उनकी आदिम अवधारणाओं तथा विचारों को वयक्त करते हैं। आजकल घड़वा कला का प्रचार बढ़ने के कारण बैल मेटल के विभिन्न कलात्मक तथा सुन्दर कलात्मक मुखौटे निर्मित किये जाने लगे हैं। प्रारम्भिक मानव पेड़ों के पत्तों और छाल से तन ढकता आया है। पेड़ पौधों में विभिन्न आकारों में मिलने वाले पत्तों के सौन्दर्य के प्रति मनुष्य का मन आदिकाल से ही आकर्षित रहा है। छत्तीसगढ़ के ग्रामीण अंचलों में आज भी सरगी, सियाड़ी तथा फरसा पत्तों से पत्तलें तथा दोने बनाकर बाँस की सीकों से सीचें जाते हैं। पत्तों की पावनता को स्वीकारते हुए छींद (खजूर) के पत्तों से मौड़ (मुकुट) सुन्दर आकृतियों में गूँथ कर दूल्हे-दुल्हिन के सिर पर धारण कराये जाते हैं। अपने पूर्वजों की स्मृति में स्मारक या समाधि बनाने की परम्परा का उद्भव काल उत्तर पाषाण युग माना जाता है। छत्तीसगढ़ के जनजातीय समाज की आदिम परम्परानुसार अपने पूर्वजों की स्मृति चिरस्थायी रखने के उद्देश्य से काष्ठ, पाषाण तथा सीमेंट के स्मृति स्तंभ स्थापित किये जाते हैं। कोरकू जाति द्वारा निर्मित मशक स्तम्भ मण्डा में प्रमुखतः मृतक के प्रतीक स्वरूप पाटिये के एक भाग में पूर्वजों की आकृतियाँ उकेरी जाती हैं। वेरियर ऐलविन के अनुसार ज्ञात स्मृति स्तंभों में कोरकू मण्डा सर्वश्रेष्ठ होते हैं। भील-भिलालों में समुदाय के किसी विशिष्ट व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसके सम्मान में स्मारक बनाने की प्रथा प्रचलित है, जो गाथा, गाता या गालता कहलाता है। इनके द्वारा निर्मित काष्ठ तथा पाषाण गाथा के अवशेष आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। कभी-कभी पुरुषों की गाथा में उनकी पत्नियों की आकृति तथा कभी-कभी मृतकों की पसंद की वस्तुएँ

भी बनायी जाती हैं। स्त्री के स्मृति स्तम्भ सती कहलाते हैं। मुरिया जनजाति में किसी प्रतिष्ठित अथवा अपने प्रिय व्यक्ति की स्मृति में पाषाण या काष्ठ से निर्मित कलात्मक स्तंभ बनाये जाते हैं। ज्यामितीय डिजाईन, बेल-बूटों तथा फूल पत्तों से सुसज्जित गायत्री खम्भ पर कहीं-कहीं पूर्वज की आकृतियाँ भी प्रतीकात्मक रूप से उकेरी जाती हैं।

बस्तर के दण्डामी-माड़िया अपने पूर्वजों की स्मृति तथा यश को चिरकाल तक स्थापित करने के लिये चिह्न लगाकर स्तम्भ बनाते हैं। ये खम्भ लकड़ी, पत्थर या सीमेंट से बनाये जाते हैं। इन स्मृति स्तम्भों को माड़िया स्वयं न बनाकर अपने निर्देशन में कुशल बढ़ई या कारीगर द्वारा बनवाकर अपनी कल्पनाओं को सकार करते हैं। इन स्मृति-स्तम्भों की स्थापना गाँव के मुख्य मार्ग पर पूर्व निश्चित जगह की जाती है। जिससे आवागमन का मार्ग होने पर सभी लोगों को सम्मानित पितरों के विषय में पूर्ण ज्ञान हो सके। इन स्तम्भों पर उत्कीर्ण आकृतियों का गठन तथा बनावट प्राचीन मिस्त्र के फराउन राजाओं के शव-सुरक्षागार पिरामिडों के निकट प्रस्तर स्तम्भों पर उत्कीर्ण आकृतियों के गठन व बनावट से साम्य रखती हैं।<sup>16</sup> स्पष्टतः आदिवासियों में स्मृति स्तंभ बनाने की प्रथा अति प्राचीन है।

प्रागैतिहासिक काल में भिन्न-भिन्न प्रकार वाली महापाषाण कालिक कब्रों में शवों को दफनाने की प्रथा प्रचलित थी। शवाधान के प्रमुख रूप नाशपाती जैसे कलष के समान आकार वाले होते थे, जो दक्षिण भारतीय संस्कृति के हैं। इन शवधानों के साथ अस्त्र आदि सामान रखा हुआ भी प्राप्त हुआ है। अतः माना जा सकता है कि प्रागैतिहासिक परम्परा को अपनाते हुये छत्तीसगढ़ आदिवासियों द्वारा मृतक स्मृति स्तंभों का निर्माण किया गया और मृतक की प्रिय वस्तु को साथ न रखकर प्रतीक रूप में स्तंभों पर चित्रित कराया गया। बैगा, भील, गोड़, परधाना, पाट्य, मुरिया, कोरकू, आदि छत्तीसगढ़ तथा मध्य प्रदेश के समकालीन लोक कलाकारों द्वारा उनके परम्परागत गुदना अभिप्रायों का समावेश और रजवार जाति में प्रयुक्त किये जाने वाले अभिप्राय विशेष उल्लेखनीय हैं। आज भी अपनी अनुष्ठान परम्परा, प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि तथा समकालीनता को अनेक लोक कलाकार अपने लोक कला रूपों में पुनर्सृजित कर रहे हैं। जिनमें श्री पेमा फत्या, श्री जनगढ़ सिंह श्याम, श्रीमति भूरीबाई, श्री बेगलूर, श्री नर्मदा प्रसाद, श्रीमती सरोहदरी बाई, श्री आनंद सिंह श्याम, श्री सुमेर सिंह, श्री शंकर, श्री पण्डित राम, श्री शिव लाल, श्री गोदी बाई, श्रीमति शान्ति बाई तथा श्रीमति रदिया बाई आदि प्रमुख हैं। जिनके द्वारा निर्मित कला कर्म को आदिवासी चित्राकारों द्वारा सृजित समकालीन चित्रकला कहना अधिक उपयुक्त है जिसमें प्रागैतिहासिक छवियों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

### संदर्भ

1. यदु, डॉ० हेमूलाल, दक्षिण कोसल की कला, रामानन्द विद्याभवन, नई दिल्ली, 1980, पृ० 17
2. इण्डियन ऑर्कोलॉजी, ए रिव्यू, 1962-63, पृ० 11
3. नेमीयर ऑफ ऑर्कोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, क० 24, पृ० 9-14
4. इण्डियन ऑर्कोलॉजिकल, सर्वे ऑफ इण्डिया-ए रिव्यू, 1995-96, पृ० 69
5. वही, 1962-63 पृ० 11
6. वही, 1962-63 पृ० 11



7. ऑक्योलाफजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट, 1930-34
8. वहीं, 1930-34
9. वहीं, 1930-34
10. गुप्ता, मदान लाल, छत्तीसगढ़ दिग्दर्शन, भाग 2, भारतेन्दु हिन्दी साहित्य समिति, बिलासपुर, (म0प्र0) 1988, पृ0 244
11. गुप्त जगदीश, प्रगौतिहासिक भारतीय चित्रकला, पृ0 71-70, उत्कीर्ण लेख-पृ0 1
12. गुप्ता, मदान लाल, छत्तीसगढ़ दिग्दर्शन, भाग 2, 1998 पृ0 381
13. शर्मा, डॉ0 हरद्वारी लाला, कला मनोविज्ञान, सौंदर्य, माधुर्य और उदात्त का विवेचन, मानसी प्रकाशन, मेरठ 1992
14. भार्गव, डॉ0 सरोज, सौन्दर्य बोध एवं ललित कलाएं, कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 50
15. अग्रवाल डॉ0 गिरिराज किशोर, कला समीक्षा, पृ0 189
16. गुप्त डॉ0 नर्मदा प्रसाद, लोक की अवधारणा और लोक सृजन, चौमासा, वर्ष-11 अंक-36, 94-95 पृ0 5
17. *Herburt Read, The meaning of Art, p. 61*
18. केसरी, डॉ0 अर्जुनदास, मिर्जापुर के गुहाचित्रों का सांस्कृतिक एवं तुलनात्मक अध्ययन, पृ0 109
19. अग्रवाल, आर0 ए0, कला विलास, पृ0 23-24
20. गोड़, रामचन्द्र, गंगा-युमना दोआब की प्रागैतिहासिक संस्कृतियाँ : हड़प्पा संस्कृति उ0 प्र0 राज्य ललित कला 3 सोविनियर 1972, पृ0 22
21. *Chatto Padhyaya Kamladevi : India's Craft Tradition, p. 20*
22. श्री हरचिरण लाल, मिट्टी के खिलौनों की कला का ऐतिहासिक वृत्त, सम्मेलन पत्रिका, कला अंक, पृ0 354
23. *Chanhdaro Excavation, Mackey, p. 159*
24. बसन्त निरेगुण, प्रतिरूप सम्पादक - कपिल तिवारी, म0प्र0 आदिवासी लोक कला परिषद्, भोपाल।
25. शांडिल्य, डॉ0 महेश चन्द्र, काष्ठ शिल्प, म0प्र0 आदिवासी लोक कला परिषद्, भोपाल पृ0 71
26. जायसवाल सतीश, बस्तर की काष्ठ कला के बारे में पूर्वाग्रह से।